

मुख्य खान निरीक्षक एवं एक अन्य

बनाम

लाला करम चंद थापर आदि

10 फरवरी 1961

(बी. पी. सिन्हा, मुख्य न्यायाधीश, एस. के. दास, के. सी. दास गुप्ता, एन. राजगोपाल

अय्यंगर और जे. आर. मुधोलकर, न्यायाधीशगण)

कोलियरी कंपनी — कोयला खदान विनियमों का उल्लंघन — कंपनी के सभी निदेशकों, प्रबंध अभिकर्ताओं तथा कंपनी के प्रबंधक के विरुद्ध अभियोजन — वैधता — खान अधिनियम 1923 का निरसन एवं पुनः अधिनियमन — उसके अंतर्गत बनाए गए विनियम क्या प्रभावी बने रहते हैं — “निदेशकों में से किसी एक” का अर्थ — भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926 — खान अधिनियम, 1923 (1923 का 4) , धारा 7 (4) — खान अधिनियम, 1952 (1952 का 35), धाराएँ 2 (1), 76 — सामान्य धाराएँ अधिनियम, 1897 (1897 का 10), धारा 24 — भारत का संविधान, अनुच्छेद 20 (1)।

जिस कंपनी के स्वामित्व में एक कोलियरी थी, उसके निदेशकों, कंपनी के प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों तथा कोलियरी के प्रबंधक और अभिकर्ता के विरुद्ध खान अधिनियम, 1952 की धाराएँ 73 और 74 के अंतर्गत अभियोजन चलाया गया, क्योंकि उन्होंने भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926 के कई प्रावधानों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अभियोजन की वैधता को निम्नलिखित आधारों पर चुनौती दी, अन्य बातों के साथ — (1) यह कि भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926, जो खान अधिनियम, 1923 के प्रावधानों के अंतर्गत बनाए गए थे, उस अधिनियम की धारा 31(4) के अनुसार ऐसे प्रभावी थे मानो वे उसी अधिनियम में निहित हों, और चूँकि उक्त अधिनियम को खान अधिनियम, 1952 द्वारा निरस्त कर दिया गया, इसलिए उक्त विनियम कथित उल्लंघन की तिथि से बहुत पहले ही विधिक अस्तित्व खो चुके थे; तथा (2) यह कि 1926 के विनियम केवल

खान अधिनियम, 1952 के अंतर्गत विनियम माने गए थे, अतः वे कथित उल्लंघन की तिथि पर प्रवृत्त विधि नहीं थे, और इसलिए वर्तमान मामले में अभियोजन भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(1) का उल्लंघन है। कंपनी के दो निदेशकों ने यह आपत्ति भी उठाई कि खान अधिनियम, 1952 की धारा 76 के अनुसार सभी निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन की अनुमति नहीं है, क्योंकि उसमें यह प्रावधान है कि निदेशकों में से किसी एक के विरुद्ध अभियोजन किया जा सकता है। प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों ने यह तर्क दिया कि किसी भी स्थिति में, चूँकि प्रबंध अभिकर्ता कोलियरी के स्वामी नहीं थे, इसलिए उनके विरुद्ध अभियोजन नहीं चलाया जा सकता।

*अभिनिर्धारित:* (1) कि सामान्य धाराएँ अधिनियम, 1897 की धारा 24 के अनुसार, जिसके तहत जब कोई अधिनियम निरस्त कर पुनः अधिनियमित किया जाता है, तो निरस्त अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए नियम और विनियम प्रभावी बने रहते हैं तथा उन्हें पुनः अधिनियमित प्रावधानों के अंतर्गत बनाया गया माना जाता है; इस प्रकार, खान अधिनियम, 1923 की धारा 31(4), जो निरस्त कर दी गई थी, की ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए कि अस्तित्व की निरंतरता के उद्देश्य से उस अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए विनियमों को उस अधिनियम का भाग नहीं माना जाएगा। अतएव, भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926 संबंधित तिथि पर प्रभावी बने रहे और उन्हें खान अधिनियम, 1952 के अंतर्गत बनाए गए विनियम माना जाएगा।

*इंस्टीट्यूट ऑफ़ पेटेंट एजेंट्स एवं अन्य बनाम जोसेफ लॉकवुड [1894] ए.सी. 347 तथा राज्य बनाम के. बी. चंद्र (1954) आई.एल.आर. 33 पटना 507 के निर्णयों को पृथक माना गया।*

(2) यह कि भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926, यद्यपि एक कल्पित प्रावधान के फलस्वरूप खान अधिनियम, 1952 के अंतर्गत विनियम बन गए, तथापि वे संविधान के अनुच्छेद 20(1) के अर्थ में "प्रवृत्त विधि" ही थे।

राव शिव बहादुर सिंह एवं एक अन्य बनाम विंध्य प्रदेश राज्य [1953] एस.सी.आर. 1188 को भी पृथक माना गया।

(3) यह कि खान अधिनियम, 1952 की धारा 76 में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "निदेशकों में से कोई एक" का अर्थ "प्रत्येक निदेशक" है।

आइल ऑफ वाइट रेलवे कंपनी बनाम तहौरदीन (1883) 25 सीएच डी 320 पर अवलंबन किया गया।

(4) यह कि कोलियरी कंपनी के प्रबंध अभिकर्ता न तो खान के स्वामी थे और न ही खान अधिनियम, 1952 की धारा 2 (1) के अर्थ में अधिभोगी, अतः प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन चलाना ग्राह्य नहीं था।

दांडिक अपीलीय क्षेत्राधिकार: दांडिक अपील संख्याएँ 1959 का 98 से 106।

ये अपीलें विशेष अनुमति से पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 3 मार्च 1958 के निर्णय एवं आदेश के विरुद्ध दायर की गई हैं, जो वाद संख्याएँ 475, 476, 479 एवं 480, 1956, 180, 1957 तथा 475 से 478, 1956 में पारित हुआ था।

अपीलकर्ताओं की ओर से श्री एन. एस. बिंद्रा एवं श्री आर. एच. डेबर, दांडिक अपील संख्याएँ 98 एवं 101, 1959

उत्तरदाताओं की ओर से श्री जी. एस. पाठक, श्री एस. ओ. बनर्जी एवं श्री पी. के. चटर्जी, दांडिक अपील संख्याएँ 102 से 106, 1959 के अपीलकर्ताओं तथा दांडिक अपील संख्याएँ 98 से 100, 1959 के उपस्थित हुए।

श्री आर. गणपति अय्यर तथा श्री आर. एच. डेबर, दांडिक अपील संख्याएँ 102 से 106, 1959 में उत्तरदाताओं की ओर से तथा दांडिक अपील संख्याएँ 99 एवं 100, 1959 में अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित हुए।

10 फरवरी, 1961 न्यायालय का निर्णय इस प्रकार दिया गया :-

दास गुप्ता, न्यायाधीश — 5 फरवरी, 1955 को बिहार राज्य के मानभूम जिला स्थित अमलाबाद कोलियरी में एक अत्यंत दुःखद दुर्घटना हुई, जिसके परिणामस्वरूप 52 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई और एक व्यक्ति घायल अवस्था में बच गया। दुर्घटना के कारणों तथा उससे संबंधित परिस्थितियों की जांच हेतु नियुक्त जांच न्यायालय ने 26 सितंबर, 1955 को अपनी प्रतिवेदन प्रस्तुत की, जिसमें यह पाया गया कि दुर्घटना लापरवाही तथा भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926 के कुछ प्रावधानों के अनुपालन न करने के कारण हुई। इस प्रतिवेदन को खान अधिनियम, 1952 की धारा 27 के अंतर्गत विधिवत प्रकाशित किया गया। इसके पश्चात् 3 मार्च, 1956 को भारत सरकार ने कोलियरी के प्रबंधक तथा अभिकर्ता को सूचित किया कि उनके आचरण की जांच हेतु विनियम 48 के खंड (क) के अंतर्गत एक जांच न्यायालय का गठन किया जा रहा है। साथ ही, कोलियरी के प्रबंधक एवं अभिकर्ता सहित कुल 14 व्यक्तियों के विरुद्ध दांडिक कार्यवाही प्रारंभ की गई, जिनमें उस कंपनी के सभी निदेशक भी सम्मिलित थे, जो कोलियरी की स्वामी थी, तथा उस कंपनी के प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशक भी शामिल थे। शिकायतों में यह आरोप लगाया गया कि उक्त 14 अभियुक्तों ने भारतीय कोयला खदान विनियम, 1926 के कई प्रावधानों का उल्लंघन किया। विभिन्न विनियमों के उल्लंघन के संबंध में दो पृथक शिकायतें दायर की गईं। एक शिकायत में आरोप था कि अभियुक्तों ने उल्लिखित विनियमों का उल्लंघन कर खान अधिनियम, 1952 की धारा 73 के अंतर्गत अपराध किया है; जबकि दूसरी शिकायत में आरोप था कि विनियमों के उल्लंघन द्वारा अभियुक्तों ने धारा 73 एवं 74 के अंतर्गत अपराध किया है। अनुमंडलीय दण्डाधिकारी ने इन अपराधों का संज्ञान लिया और 23 मई, 1956 को सभी 14 व्यक्तियों के विरुद्ध प्रक्रिया जारी की। अभियुक्तों में से छह व्यक्तियों—लाला करम चंद थापर, एच. पी. पोद्दार, जगत राम शर्मा, कुमुद रंजन दत्त, एच. वी. वर्मा तथा यू. मेहता—ने पटना उच्च न्यायालय में दांडिक कार्यवाही को निरस्त करने हेतु उपयुक्त विनिर्दिष्ट आदेश अथवा आदेश जारी करने के लिए आवेदन प्रस्तुत किए। इन विभिन्न आवेदनों का मुख्य आधार यह था कि

जिन विनियमों के कथित उल्लंघन के लिए शिकायतें दायर की गई थीं, वे खान अधिनियम, 1923 के निरसन के कारण, जिसके अंतर्गत वे बनाए गए थे, कथित उल्लंघन की तिथि से बहुत पहले ही विधिक अस्तित्व खो चुके थे। सभी आवेदकों द्वारा यह भी एक आधार लिया गया कि अभियोजन भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(1) का उल्लंघन है। कोलियरी की स्वामी कंपनी के दो निदेशकों—लाला करम चंद थापर तथा एच. पी. पोद्दार—द्वारा दायर आवेदन में एक अतिरिक्त बिंदु यह उठाया गया कि खान अधिनियम, 1952 के अंतर्गत सभी निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन की अनुमति नहीं है। प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों ने अपने आवेदनों में यह तर्क प्रस्तुत किया कि चूँकि प्रबंध अभिकर्ता कोलियरी के स्वामी नहीं थे, इसलिए उनके निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन नहीं चलाया जाना चाहिए।

उच्च न्यायालय ने आवेदकों के इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि खान अधिनियम, 1923 की धारा 29 के अंतर्गत बनाए गए विनियम, उस अधिनियम के निरसन के पश्चात विधिक अस्तित्व खो चुके थे। तथापि, उसने प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों के इस तर्क को स्वीकार किया कि वे अभियोजन के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। उच्च न्यायालय ने 1952 के अधिनियम की धारा 76 के प्रावधानों पर विचार करते हुए यह भी माना कि कोलियरी की स्वामी कंपनी के सभी निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन नहीं चलाया जा सकता, बल्कि सभी निदेशकों में से परिवादी द्वारा चुने गए केवल एक के विरुद्ध ही कार्यवाही की जा सकती है। इन निष्कर्षों के आधार पर उच्च न्यायालय ने प्रबंधक एवं अभिकर्ता के आवेदनों को खारिज कर दिया, तथा प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों के आवेदनों को स्वीकार कर लिया। कोलियरी कंपनी के दो निदेशकों (लाला करम चंद थापर एवं एच. पी. पोद्दार) द्वारा दायर दो आवेदनों में, उसने उत्तरदाता संख्या 2 एवं 3, अर्थात् मुख्य खान निरीक्षक तथा क्षेत्रीय खान निरीक्षक, धनबाद को यह निर्देश दिया कि वे कंपनी के निदेशकों में से किसी एक को अभियोजन हेतु चुनें तथा अन्य निदेशकों के नाम अभियुक्तों की श्रेणी से हटा दें। इन दो दांडिक मामलों में कंपनी के उक्त दो निदेशकों ने इस निर्देश के विरुद्ध विशेष अनुमति प्राप्त

कर अपील दायर की, जो अब हमारे समक्ष दांडिक अपील संख्याएँ 103 एवं 104, 1959 के रूप में लंबित हैं। प्रबंधक एवं अभिकर्ता ने भी अपने आवेदनों के अस्वीकार किए जाने के विरुद्ध इस न्यायालय से विशेष अनुमति प्राप्त कर अपील दायर की, जो अब दाण्डिक अपील संख्याएँ 105 एवं 106, 1959 के रूप में अंकित हैं। मुख्य खान निरीक्षक एवं अन्य, जो अनुच्छेद 226 के अंतर्गत दायर याचिका में प्रतिवादी बनाए गए थे, उन्होंने भी इस न्यायालय द्वारा प्रदान की गई विशेष अनुमति के आधार पर उच्च न्यायालय के उस आदेश के विरुद्ध अपील दायर की, जिसमें प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों के आवेदनों को स्वीकार किया गया था, तथा उस आदेश के विरुद्ध भी, जिसमें कंपनी के दो निदेशकों के आवेदन में मुख्य खान निरीक्षक एवं क्षेत्रीय खान निरीक्षक को केवल एक निदेशक को अभियोजन हेतु चुनने का निर्देश दिया गया था। प्रबंध अभिकर्ताओं के निदेशकों के आवेदनों से संबंधित उनकी अपीलें हमारे समक्ष दांडिक अपील संख्याएँ 100 एवं 101 के रूप में अंकित हैं, तथा कोलियरी कंपनी के निदेशकों के आवेदनों से संबंधित उनकी अपीलें दांडिक अपील संख्याएँ 98 एवं 99, 1957 के रूप में अंकित हैं।

इन चारों अपीलों में अपीलकर्ताओं को “सरकारी अपीलकर्ता” के रूप में संबोधित करना सुविधाजनक होगा।

लगभग उसी समय, जब उच्च न्यायालय के समक्ष ये विभिन्न आवेदन दायर किए गए, कोलियरी कंपनी के अभिकर्ता तथा प्रबंधक ने भी पटना उच्च न्यायालय में उपयुक्त विनिर्दिष्ट आदेश या आदेश जारी करने हेतु आवेदन प्रस्तुत किए, जिनमें छोटानागपुर के आयुक्त, जिन्हें विनियम 48 के अंतर्गत जांच करने के लिए नियुक्त किया गया था, को उस जांच को करने से रोकने का अनुरोध किया गया। उच्च न्यायालय ने यह माना कि अभिकर्ताओं के विरुद्ध कोई जांच आदेशित नहीं की जा सकती। किन्तु प्रबंधक का आवेदन अस्वीकार कर दिया गया। उस आदेश के विरुद्ध प्रबंधक श्री कुमुद रंजन दत्त ने इस न्यायालय

से विशेष अनुमति प्राप्त कर अपील दायर की, जो अब हमारे समक्ष अपील संख्या 102, 1959 के रूप में लंबित है।

अपील संख्याएँ 100 तथा 101 पर अधिक समय व्यय करने की आवश्यकता नहीं है। अन्य प्रश्नों पर चाहे जो विवाद हो—जैसे 1926 के विनियमों का खान अधिनियम, 1923 के निरसन के बाद भी प्रभावी रहना अथवा संविधान के अनुच्छेद 20(1) के कथित उल्लंघन का प्रश्न—इस बात में कोई संदेह नहीं है कि उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष सही है कि कोलियरी कंपनी के प्रबंध अभिकर्ता न तो कोयला खानों के “स्वामी” हैं और न ही “प्रबंधक” अथवा “अभिकर्ता”। हमारे समक्ष यह तक भी नहीं कहा गया कि प्रबंध अभिकर्ता प्रबंधक या अभिकर्ता हैं। अधिनियम में “अभिकर्ता” का अर्थ स्वामी का वह प्रतिनिधि है जो खान के प्रबंधन, नियंत्रण और संचालन के संबंध में कार्य करता है, और कंपनी का प्रबंध अभिकर्ता किसी भी प्रकार से इस परिभाषा में नहीं आता। “प्रबंधक” की परिभाषा अधिनियम में नहीं दी गई है, किन्तु धारा 17 के अनुसार प्रत्येक खान एक प्रबंधक के अधीन होगी, जिसके पास निर्धारित योग्यता होगी और जो खान के नियंत्रण, प्रबंधन, पर्यवेक्षण एवं निर्देशन के लिए उत्तरदायी होगा। अमलाबाद कोलियरी में श्री कुमुद रंजन दत्त को विधिवत प्रबंधक नियुक्त किया गया था, और उसी आधार पर उनके विरुद्ध कार्यवाही प्रारंभ की गई। कंपनी का प्रबंध अभिकर्ता अमलाबाद कोलियरी का प्रबंधक न था और न ही हो सकता था। तथापि यह तर्क दिया गया कि प्रबंध अभिकर्ता खान के कब्जे में हैं और इस प्रकार वे अधिनियम की धारा 2(1) में “स्वामी” की परिभाषा के अंतर्गत “अधिभोगी” के रूप में आते हैं। धारा 2(1) में “स्वामी” की प्रासंगिक परिभाषा इस प्रकार है—“स्वामी” से आशय उस व्यक्ति से है जो खान का तात्कालिक स्वामी, पट्टेदार या अधिभोगी हो। यह तर्क दिया गया कि प्रबंध अभिकर्ता, कंपनी के प्रबंध अभिकर्ता होने के कारण, खान पर कब्जा रखते हैं और इस प्रकार “अधिभोगी” हैं। यद्यपि “अधिभोगी” शब्द की परिभाषा अधिनियम में नहीं दी गई है, किन्तु यह मानना स्पष्ट रूप से असंगत होगा कि जो भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से खान पर कब्जा

रखता है, वह "अधिभोगी" और इस प्रकार "स्वामी" हो जाता है। "तात्कालिक स्वामी, पट्टेदार या अधिभोगी" शब्दों के संयुक्त प्रयोग से स्पष्ट है कि "अधिभोगी" वही व्यक्ति है जिसका कब्जा उसी प्रकार का हो जैसा स्वामी या पट्टेदार का होता है—अर्थात् अपने अधिकार में, न कि किसी अन्य के के ओर से। इस प्रकार, यदि कोई अतिक्रमणकारी वास्तविक स्वामी को बाहर रखकर कब्जा करता है, तो वह अधिभोगी माना जा सकता है और अधिनियम के प्रयोजन हेतु "स्वामी" भी होगा। किन्तु जब कोई सेवक या अभिकर्ता स्वामी या पट्टेदार की ओर से खान पर कब्जा रखता है, तो वह अपने लिए नहीं, बल्कि अपने स्वामी या प्रधान की ओर से कब्जा रखता है। यह मानना अव्यवहारिक होगा कि विधायिका ने ऐसे सेवकों या अभिकर्ताओं को "स्वामी" के रूप में उत्तरदायी बनाने का अभिप्राय रखा था। यदि किसी अन्य की ओर से कब्जा रखना ही "अधिभोगी" बनने के लिए पर्याप्त होता, तो प्रत्येक प्रबंधक "अधिभोगी" बन जाता और इस प्रकार "स्वामी" के सभी दायित्वों का वहन करता। इसी प्रकार स्वामी या पट्टेदार के अनेक अभिकर्ता भी "अधिभोगी" बन जाते और "स्वामी" माने जाते। यदि विधायिका का यही उद्देश्य होता, तो अधिनियम की धारा 18 में "स्वामी" के अतिरिक्त "अभिकर्ता" और "प्रबंधक" शब्दों का पृथक उल्लेख करना अनावश्यक और निरर्थक होता, विशेषकर उस महत्वपूर्ण प्रावधान में, जो यह निर्धारित करता है कि खान के संचालन के लिए अधिनियम, विनियमों, उपविधियों और आदेशों के अनुपालन की जिम्मेदारी किसकी होगी।

इसी प्रकार धारा 22 में, जो मुख्य खान निरीक्षक या निरीक्षक को कुछ दोषों के निराकरण हेतु विशेष निर्देश देने की शक्ति प्रदान करती है, तथा धारा 61 में, जो उपविधियाँ बनाने का प्रावधान करती है, "स्वामी" के अतिरिक्त "अभिकर्ता" और "प्रबंधक" का पृथक उल्लेख करना भी अनावश्यक होता। धाराओं 18, 22 तथा 61 में स्वामी, अभिकर्ता और प्रबंधक को अलग-अलग उत्तरदायी ठहराया जाना यह स्पष्ट दर्शाता है कि विधायिका का यह अभिप्राय नहीं था कि अभिकर्ता या प्रबंधक, धारा 2(1) में "स्वामी" की परिभाषा के अंतर्गत

आएँ। इसका कारण यही है कि किसी अन्य की ओर से किया गया कब्जा, विधायिका की दृष्टि में ऐसा "अधिभोग" नहीं था, जिससे कब्जा रखने वाला व्यक्ति धारा 2(1) के अर्थ में "अधिभोगी" बन जाए। कोलियरी कंपनी के प्रबंध अभिकर्ता द्वारा खान पर जो भी कब्जा किया जाता है, वह कंपनी की ओर से किया जाता है, न कि अपने स्वयं के लिए; अतः ऐसे प्रबंध अभिकर्ता धारा 2(1) के अर्थ में खान के "अधिभोगी" नहीं हैं। जब प्रबंध अभिकर्ता कंपनी न तो अभिकर्ता है, न प्रबंधक और न ही खान का स्वामी, तब उस कंपनी या उसके किसी निदेशक द्वारा कोयला खदान विनियमों के उल्लंघन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतः उच्च न्यायालय द्वारा प्रबंध अभिकर्ता कंपनी के निदेशकों के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाही को निरस्त करना सही था। परिणामस्वरूप, अपील संख्याएँ 100 एवं 101 निरस्त की जाती हैं।

शेष सात अपीलों में मुख्य विवाद यह है कि क्या खान अधिनियम, 1923 की धारा 29 के अंतर्गत बनाए गए खान विनियम, 1926, खान अधिनियम, 1952 द्वारा 1923 के अधिनियम के निरसन के पश्चात भी प्रभावी रहे। इस प्रश्न को समझने के लिए एक ओर खान अधिनियम, 1923 की धारा 31 तथा दूसरी ओर सामान्य धाराएँ अधिनियम, 1897 की धारा 24 के प्रावधानों पर विचार करना आवश्यक है। धारा 31 की उपधारा (1) यह प्रावधान करती है कि धाराओं 29, 30 एवं 30क के अंतर्गत नियम एवं विनियम बनाने की शक्ति, पूर्व प्रकाशन की शर्त के अधीन है। उसी धारा की उपधारा (4) यह निर्धारित करती है कि नियम एवं विनियम आधिकारिक राजपत्र में प्रकाशित किए जाएँगे और ऐसे प्रकाशन के पश्चात उनका प्रभाव ऐसा होगा "मानो वे इस अधिनियम में ही अधिनियमित किए गए हों।" जिन विनियमों के उल्लंघन का आरोप लगाया गया है, वे सभी 1923 के अधिनियम की धारा 29 के अंतर्गत बनाए गए थे और यह निर्विवाद है कि वे विधिवत राजपत्र में प्रकाशित किए गए थे। इस प्रकार, उनके प्रकाशन की तिथि से ही उनका प्रभाव ऐसा हो गया मानो वे खान अधिनियम, 1923 में अधिनियमित हों। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या खान

अधिनियम, 1923 के निरसन के साथ ही ये विनियम भी निरस्त हो गए? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व, सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 पर ध्यान देना आवश्यक है।

उसका प्रासंगिक अंश इस प्रकार है—

“जब कोई केंद्रीय अधिनियम, इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात्, निरस्त कर पुनः अधिनियमित किया जाता है, तब जब तक अन्यथा स्पष्ट रूप से प्रावधान न किया गया हो, निरस्त अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए कोई भी नियम ... जहाँ तक वे पुनः अधिनियमित प्रावधानों के साथ असंगत न हों, प्रभावी बने रहेंगे और उन्हें पुनः अधिनियमित प्रावधानों के अंतर्गत बनाया गया माना जाएगा, जब तक कि उन्हें उन प्रावधानों के अंतर्गत बनाए गए किसी अन्य नियम द्वारा प्रतिस्थापित न कर दिया जाए।”

इस स्तर पर यह स्पष्ट करना सुविधाजनक है कि “विनियम” निस्संदेह इन प्रावधानों के अर्थ में “नियम” की श्रेणी में आते हैं।

यह एक ऐसा मामला है, जिसमें खान अधिनियम, 1923 को निरस्त कर संशोधनों सहित खान अधिनियम, 1952 के रूप में पुनः अधिनियमित किया गया। 1923 के अधिनियम की धारा 29, जो केंद्र सरकार को निर्दिष्ट उद्देश्यों के लिए अधिनियम के अनुरूप विनियम बनाने की शक्ति प्रदान करती थी, 1952 के अधिनियम में धारा 57 के रूप में पुनः अधिनियमित की गई। 1926 में, 1923 के अधिनियम की धारा 29 के अंतर्गत विनियम बनाए गए थे, किन्तु संबंधित समय, अर्थात् 1955 तक, 1952 के अधिनियम की धारा 57 के अंतर्गत कोई नए विनियम नहीं बनाए गए थे। अतः 1955 में खान विनियम, 1926 को 1952 के अधिनियम की धारा 57 के अंतर्गत बनाए गए किसी विनियम द्वारा प्रतिस्थापित नहीं किया गया था। अतः यदि सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 लागू होती हैं, तो खान विनियम, 1926 संबंधित तिथि, अर्थात् 1955 में प्रभावी बने रहे और उन्हें 1952 के अधिनियम की धारा 57 के अंतर्गत बनाया गया माना जाएगा, क्योंकि बाद के अधिनियम में

इसके विपरीत कोई स्पष्ट या अन्यथा प्रावधान नहीं है तथा ये विनियम पुनः अधिनियमित प्रावधानों के साथ असंगत भी नहीं हैं।

प्रबंधक-अपीलकर्ता की ओर से श्री पाठक का यह तर्क है कि सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 का इन विनियमों पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये खान अधिनियम, 1923 के साथ ही निरस्त हो गए। उनका तर्क सरल है। 1923 के अधिनियम की धारा 31(4) में कहा गया है कि ये विनियम ऐसे प्रभावी होंगे मानो वे उसी अधिनियम में अधिनियमित किए गए हों। इस प्रावधान का परिणाम यह हुआ कि ये विनियम अधिनियम का हिस्सा बन गए; संपूर्ण अधिनियम को 1952 के अधिनियम की धारा 88 द्वारा निरस्त कर दिया गया; अतः 1926 के विनियम, जो अधिनियम का भाग थे, भी निरस्त हो गए। इस प्रकार, जिस दिन 1952 का अधिनियम प्रभाव में आया, उसी दिन 1926 के विनियमों का विधिक अस्तित्व समाप्त हो गया। इसलिए सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के लागू होने का कोई आधार नहीं बचता।

इस तर्क का पूरा आधार इस मान्यता पर टिका है कि 1923 के अधिनियम की धारा 31(4) का आवश्यक परिणाम यह है कि विनियम, प्रकाशन के पश्चात, अधिनियम का अभिन्न भाग बन जाते हैं। प्रश्न यह है कि क्या यह मान्यता उचित है?

इस प्रश्न का उत्तर देते समय यह ध्यान रखना उपयोगी होगा कि सामान्य धाराएँ अधिनियम का उद्देश्य विभिन्न शब्दों के अर्थ तथा विधिक सिद्धांतों से संबंधित प्रावधानों को एक ही अधिनियम में समाहित करना है, जिन्हें अन्यथा अनेक विभिन्न अधिनियमों और विनियमों में पृथक-पृथक रूप से उल्लेखित करना पड़ता। सामान्य धाराएँ अधिनियम जो भी कहता है—चाहे शब्दों के अर्थ के संबंध में हो या विधिक सिद्धांतों के संबंध में—उसे उन सभी अधिनियमों में समाविष्ट मानकर पढ़ा जाता है, जिन पर वह लागू होता है। खान अधिनियम, 1923 एक केंद्रीय अधिनियम होने के कारण, सामान्य धाराएँ अधिनियम, 1897 की धारा 24 उस पर लागू होती है; अतः हमें खान अधिनियम, 1923 में धारा 24 के प्रावधानों को भी

समाहित मानकर पढ़ना होगा। इसका परिणाम यह है कि एक ओर इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि धारा 29 के अंतर्गत बनाए गए विनियम ऐसे प्रभावी होंगे मानो वे अधिनियम में अधिनियमित हों, और दूसरी ओर यह भी प्रावधान माना जाएगा कि ऐसे विनियम, जब यह अधिनियम निरस्त कर पुनः अधिनियमित किया जाएगा, तब भी प्रभावी बने रहेंगे और पुनः अधिनियमित प्रावधानों के अंतर्गत बनाए गए माने जाएंगे, जब तक कि इसके विपरीत कोई स्पष्ट प्रावधान न हो अथवा उन्हें नए विनियमों द्वारा प्रतिस्थापित न कर दिया जाए।

यदि धारा 31(4) के शब्दों का ऐसा अर्थ लगाया जाए कि विनियम अधिनियम का इस सीमा तक भाग बन गए कि अधिनियम के निरसन के साथ ही वे भी निरस्त हो जाएँ, तो तत्काल धारा 31(4) और सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के प्रावधानों के बीच टकराव उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में, खान अधिनियम, 1923 एक ओर धारा 31(4) में यह कहता हुआ प्रतीत होगा कि अधिनियम के निरसन से विनियम भी निरस्त हो जाएँगे, और दूसरी ओर सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 को उसमें पढ़े जाने पर यह भी कहा जाएगा कि जब अधिनियम निरस्त कर पुनः अधिनियमित किया जाता है, तब विनियम निरस्त नहीं होंगे, बल्कि नए विनियम बनने तक प्रभावी बने रहेंगे। इस टकराव को दूर करने के लिए न्यायालयों को सामंजस्यपूर्ण व्याख्या का सिद्धांत अपनाना होता है। श्री पाठक के अनुसार पूर्ण सामंजस्य तभी संभव है जब यह माना जाए कि सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 तभी लागू होगी जब विनियम मूल अधिनियम के निरसन के बाद भी जीवित रहें, और साथ ही धारा 31(4) का अर्थ यह लिया जाए कि विनियम सभी प्रयोजनों के लिए अधिनियम का अभिन्न भाग हैं। सामंजस्य स्थापित करने का अर्थ यह नहीं है कि किसी प्रावधान को निष्प्रभावी बना दिया जाए। विद्वान अधिवक्ता के तर्क के अनुसार जो तथाकथित सामंजस्य स्थापित किया जा रहा है, वह वास्तव में सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के प्रावधानों को निष्प्रभावी बना देता है और व्यवहारतः खान अधिनियम, 1923 के संदर्भ में उन्हें समाप्त कर देता है। अतः दोनों प्रावधानों में सामंजस्य स्थापित करने का कोई अन्य

उचित तरीका अपनाना आवश्यक है। स्वाभाविक और युक्तिसंगत तरीका यह है कि धारा 31(4) का यह अर्थ लिया जाए कि विनियम, प्रकाशन के पश्चात, कुछ प्रयोजनों के लिए—जैसे उनकी वैधता के परीक्षण के लिए—ऐसा प्रभाव रखते हैं मानो वे अधिनियम का भाग हों; किन्तु उनके अस्तित्व की निरंतरता के उद्देश्य से उन्हें अधिनियम का भाग नहीं माना जाएगा। इस प्रकार, अधिनियम के निरस्त होने पर भी, सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के अनुसार विनियम प्रभावी बने रहेंगे। यह व्याख्या खान अधिनियम, 1923 की धारा 31(4) को भी उचित प्रभाव देती है और साथ ही सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के महत्वपूर्ण उद्देश्य को भी विफल नहीं होने देती। यहाँ यह स्मरण रखना उचित होगा कि किसी अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए विनियम अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। अधिनियम के सफल क्रियान्वयन के लिए ऐसे विनियम बनाए जाते हैं; उचित विनियमों के बिना कोई अधिनियम प्रायः निरर्थक हो जाता है। जब कोई अधिनियम निरस्त कर पुनः अधिनियमित किया जाता है, तो यह लगभग निश्चित है कि नए अधिनियम के लागू होने और उसके अंतर्गत नए विनियम बनाए जाने के बीच कुछ समय का अंतर रहेगा। चाहे नियम बनाने वाली प्राधिकारी कितनी ही दक्ष क्यों न हो, इस अंतराल से पूर्णतः बचना संभव नहीं है, और कई बार यह अंतराल पर्याप्त लंबा भी हो सकता है। क्या यह मानना संभव है कि विधायिका ने यह आशय रखा होगा कि यदि अधिनियम निरस्त कर पुनः अधिनियमित किया जाए, तो पहले से बने विनियम पूरी तरह समाप्त हो जाएँ और नए अधिनियम के अंतर्गत कुछ समय तक कोई विनियम ही न रहें, जिससे नया अधिनियम कई दृष्टियों से निष्प्रभावी हो जाए? इसका उत्तर स्पष्ट रूप से नकारात्मक है। अतः यह निश्चित है कि विधायिका का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था कि विनियम अधिनियम का भाग बनकर, अधिनियम के निरसन के साथ ही समाप्त हो जाएँ। संतोष की बात यह है कि प्रयुक्त शब्दों का ऐसा परिणाम नहीं निकलता। क्योंकि यदि सामंजस्यपूर्ण व्याख्या का सिद्धांत अपनाया जाए, जैसा कि ऊपर बताया गया है,

तो धारा 31(4) सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के संचालन में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करती।<sup>1</sup>

किसी अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए नियमों या विनियमों को “अधिनियम में अधिनियमित होने के समान प्रभाव” देने वाले प्रावधान की उचित व्याख्या का प्रश्न अनेक अंग्रेजी तथा भारतीय निर्णयों में विचाराधीन रहा है, और उन्हीं में से एक—जो इस विषय पर प्रारंभिक मामलों में से है—से श्री पाठक ने सहायता लेने का प्रयास किया। यह मामला इंस्टीट्यूट ऑफ पेटेंट एजेंट्स एवं अन्य बनाम जोसेफ लॉकवुड का है। उसमें लॉकवुड के विरुद्ध यह घोषणा चाही गई थी कि वह पेटेंट, डिजाइन तथा व्यापार चिह्न अधिनियम, 1888 के अनुसार पेटेंट अभिकर्ता के रूप में पंजीकृत नहीं है और स्वयं को पेटेंट अभिकर्ता कहने का अधिकारी नहीं है; साथ ही इसके परिणामस्वरूप अन्य अनुषंगी राहत भी मांगी गई थी। यद्यपि अधिनियम की धारा 1 में ऐसे पंजीकरण की आवश्यकता निर्धारित की गई थी, तथापि स्वयं अधिनियम में यह प्रावधान नहीं था कि पंजी किस प्रकार बनाया जाएगा, पंजीयक कौन होगा, पंजीकरण के लिए आवश्यक औपचारिकताएँ क्या होंगी, अथवा उससे संबंधित अन्य विवरण क्या होंगे। अधिनियम ने प्रथम धारा को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक सामान्य नियम बनाने का अधिकार व्यापार मंडल को सौंप दिया था। व्यापार मंडल द्वारा बनाए गए नियमों में एक नियम ऐसा था, जिसमें प्रथम पंजीकरण के समय एक निश्चित शुल्क तथा वार्षिक शुल्क देने का प्रावधान किया गया था, और इनका भुगतान न करने पर पंजीकरण निरस्त करने का आधार माना गया था। तत्पश्चात् यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शुल्क से संबंधित ये नियम वैध (अधिकार के भीतर) हैं या अवैध (अधिकार के बाहर)। लॉर्ड्स सभा ने यह निर्णय दिया कि नियम वैध थे; किन्तु साथ ही अपीलकर्ताओं की ओर से उठाए गए उस तर्क पर भी विचार किया गया कि अधिनियम में यह प्रावधान होने के कारण कि नियमों का

---

1 (I) [1894] ए.सी. 347

प्रभाव ऐसा होगा “मानो वे इस अधिनियम में ही निहित हों”, इस बात पर कि नियम अधिकार के भीतर हैं या बाहर, न्यायालय में विचार ही नहीं किया जा सकता।<sup>2</sup>

उक्त प्रावधान के प्रभाव के संबंध में लॉर्ड हरशेल ने कहा— “मुझे यह मानने में अत्यधिक कठिनाई होती है कि ‘उनका प्रभाव ऐसा होगा मानो वे अधिनियम में निहित हों’ इन शब्दों का कोई अन्य अर्थ हो सकता है, सिवाय इसके कि व्याख्या, दायित्व या अन्य सभी प्रयोजनों के लिए उन्हें ऐसा माना जाए मानो वे अधिनियम का ही भाग हों।” श्री पाठक ने “सभी प्रयोजनों के लिए—व्याख्या, दायित्व या अन्यथा” इस वाक्यांश पर बल देते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह इस बात का प्रबल आधार है कि यह निर्धारित करते समय कि क्या नियम अधिनियम का भाग हैं, ताकि अधिनियम के निरसन के साथ उनके निरसन का परिणाम निकाला जा सके, नियमों को ऐसा ही माना जाना चाहिए मानो वे अधिनियम में निहित हों, और इस प्रकार वे भी निरस्त हो गए। किन्तु हमें इस तथ्य का संज्ञान लेना आवश्यक है कि यह प्रश्न कि अधिनियम के निरसन का नियमों पर क्या प्रभाव पड़ेगा और क्या उन्हें अधिनियम का भाग मानकर उसी के साथ निरस्त समझा जाए, लॉर्ड्स सभा के समक्ष विचार हेतु तनिक भी उपस्थित नहीं था। उनके समक्ष एकमात्र प्रश्न यह था कि उपर्युक्त प्रावधानों—जिनमें कहा गया है कि नियमों का प्रभाव ऐसा होगा “मानो वे अधिनियम में निहित हों”—के प्रकाश में न्यायालय किस सीमा तक, यदि कोई सीमा हो, नियमों की वैधता के प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। यह भी स्पष्ट है कि लॉर्ड चांसलर इन प्रावधानों के अन्य पहलुओं पर विचार नहीं कर रहे थे, जैसा कि उनके उपर्युक्त कथन के तुरंत पश्चात दिए गए वक्तव्य से और भी स्पष्ट हो जाता है।

“निस्संदेह,” उन्होंने कहा, “किसी नियम और अधिनियम के किसी प्रावधान के बीच कुछ टकराव हो सकता है। ऐसा तो कभी-कभी एक ही अधिनियम की दो धाराओं के बीच भी होता है। आपको यथासंभव उनका सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करना

चाहिए। यदि ऐसा संभव न हो, तो यह निर्धारित करना होगा कि कौन-सा प्रावधान प्रधान है और कौन-सा गौण, तथा किसे दूसरे के आगे स्थान छोड़ना होगा। यही सिद्धांत अधिनियमों के प्रावधानों तथा उन नियमों पर भी लागू होगा जिन्हें ऐसा माना जाता है मानो वे अधिनियम के भीतर ही हों। ऐसी स्थिति में संभवतः अधिनियम स्वयं प्रमुख माना जाएगा और नियम को उसके अधीनस्थ समझा जाएगा।”

न केवल वर्तमान में हमारे समक्ष जो प्रश्न है, वह *लॉकवुड के मामले* में निर्णय हेतु प्रस्तुत नहीं था, बल्कि यह भी स्पष्ट है कि विद्वान लॉर्ड चांसलर का ऐसे प्रश्नों पर विचार करने का कोई अभिप्राय नहीं था, जब उन्होंने वे शब्द प्रयुक्त किए जिन पर श्री पाठक ने अवलंबन करने का प्रयास किया है।

हमारे मत में, *लॉकवुड का मामला*<sup>(1)</sup> विद्वान अधिवक्ता द्वारा प्रस्तावित व्याख्या के समर्थन में कोई प्रामाणिक आधार प्रदान नहीं करता।<sup>3</sup>

बाद के एक निर्णय स्वास्थ्य मंत्रालय बनाम द किंग (याफे के अभियोजन पर) में भी लॉर्ड्स सभा ने यह विचार किया कि लॉकवुड के मामले में प्रतिपादित सिद्धांत की सीमा क्या है, किन्तु वहाँ भी केवल यह प्रश्न था कि क्या किसी ऐसी योजना की वैधता, जिसे अधिनियम के समान प्रभाव दिया गया हो, न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। वर्तमान प्रश्न—अर्थात् अधिनियम के निरसन का नियमों पर क्या प्रभाव पड़ेगा—वहाँ भी विचाराधीन नहीं था।

पटना उच्च न्यायालय द्वारा *राज्य बनाम के. बी. चंद्र*<sup>(1)</sup> के मामले में विचार किया गया प्रश्न भी वर्तमान प्रश्न से पूर्णतः भिन्न था। वहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि खान शिशुगृह नियम तथा कोयला खदान स्नानगृह नियम, 1946—जिनके उल्लंघन का आरोप उत्तरदाता चंद्र पर था—को खान अधिनियम, 1923 का भाग माना जाना चाहिए, और उनकी वैधता का प्रश्न न्यायालय में नहीं उठाया जा सकता। इस तर्क को अस्वीकार कर दिया गया

और यह निर्णय दिया गया कि क्या नियम अधिनियम के अनुरूप हैं, यह न्यायिक परीक्षण का विषय हो सकता है। उस मामले में नियमों का उल्लंघन 1952 के अधिनियम के लागू होने से पूर्व हुआ था, अतः न्यायालय को यह विचार करने का अवसर ही नहीं मिला कि 1923 के अधिनियम के निरसन के बाद उन नियमों का अस्तित्व बना रहता है या नहीं।

अतः बार में उद्धृत कोई भी मामला वर्तमान प्रश्न के निर्णय में किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं करता।

वास्तविक स्थिति यह है कि नियम और विनियम, भले ही उन्हें ऐसा प्रभाव दिया गया हो मानो वे अधिनियम में ही निहित हों, अपनी मूल प्रकृति—अधीनस्थ नियम—को नहीं खोते। वे अधिनियम के अधीन ही रहते हैं, और यद्यपि कुछ उद्देश्यों के लिए, जैसे व्याख्या के प्रयोजन से, उन्हें अधिनियम का भाग मानकर देखा जाता है, तथापि उनका वास्तविक स्वरूप अधीनस्थ नियमों का ही बना रहता है। इसलिए, अधिनियम के निरसन के प्रभाव के संबंध में वे सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के अधीन ही रहते हैं।

उपर्युक्त कारणों से हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि खान अधिनियम, 1923 की धारा 31(4) सामान्य धाराएँ अधिनियम, 1897 की धारा 24 के पूर्ण प्रभाव में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करती, और इन प्रावधानों के परिणामस्वरूप कोयला खदान विनियम, 1926 संबंधित समय पर प्रभावी बने रहे तथा उन्हें खान अधिनियम, 1952 के अंतर्गत बनाए गए विनियम माना जाएगा।

यहाँ श्री पाठक द्वारा हल्के रूप से प्रस्तुत एक अन्य तर्क का उल्लेख करना आवश्यक है कि भले ही विनियमों को 1952 के खान अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए विनियम माना जाए, फिर भी उस अधिनियम की धारा 73 या धारा 74 लागू नहीं हो सकती। उन्होंने यह इंगित किया कि इन धाराओं के अंतर्गत दंडनीय वही कृत्य है, जो अधिनियम या उसके अंतर्गत बनाए गए किसी विनियम, नियम, उपविधि अथवा आदेश का उल्लंघन हो। उनका तर्क है कि ये धाराएँ ऐसे विनियमों के उल्लंघन को दंडनीय नहीं बनाती जिन्हें केवल “माना

गया हो" कि वे 1952 के अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए हैं; अतः यदि उनके मुवक्किलों ने 1926 के खान विनियमों का उल्लंघन किया भी हो, तो भी धारा 73 या 74 के अंतर्गत कोई अपराध सिद्ध नहीं होता। इस संदर्भ में विद्वान अधिवक्ता ने 1952 के अधिनियम की धारा 2(ओ) में "विनियम" की परिभाषा का उल्लेख किया, जिसमें "विनियम" से आशय "इस अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए विनियम" है। उनका कहना है कि यदि विधायिका का आशय यह होता कि ऐसे विनियमों का उल्लंघन भी दंडनीय हो जो केवल अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए माने जाते हैं, तो परिभाषा में इसका स्पष्ट उल्लेख किया जाता। यह तर्क स्वीकार्य नहीं है। किसी उपबंध द्वारा "माना जाना" का प्रभाव यह होता है कि जिस वस्तु को किसी अन्य वस्तु के समान माना गया है, उस पर उस दूसरी वस्तु के सभी विधिक परिणाम लागू होते हैं। दूसरे शब्दों में, जब 'क' को 'ख' माना जाता है, तो 'क' का पालन विधि में 'ख' का पालन माना जाएगा और 'क' का उल्लंघन 'ख' का उल्लंघन समझा जाएगा। अतः जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के कारण 1926 के कोयला खदान विनियम, संबंधित तिथि पर 1952 के खान अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए विनियम माने जाएँगे, तब यह निष्कर्ष अनिवार्य रूप से निकलता है कि उन विनियमों का उल्लंघन 1952 के अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए विनियमों का उल्लंघन ही माना जाएगा। परिणामतः ऐसा उल्लंघन करने वाला व्यक्ति, परिस्थितियों के अनुसार, धारा 73 या धारा 74 के अंतर्गत अपराधी होगा।<sup>4</sup>

श्री पाठक का अगला तर्क भी समान रूप से असंगत है कि 1926 के भारतीय कोयला खदान विनियमों का उल्लंघन—जो कथित तिथि पर 1952 के अधिनियम के अंतर्गत "माने गए" विनियम थे—उस तिथि पर प्रवृत्त विधि का उल्लंघन नहीं था, और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 20(1) के कारण उनके मुवक्किलों को दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 20(1) का प्रासंगिक भाग यह कहता है कि किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए तब तक

---

4 (1) [1953] एस.सी.आर. 1188

दोषी नहीं ठहराया जाएगा जब तक कि वह कृत्य उसके किए जाने के समय प्रवृत्त किसी विधि का उल्लंघन न हो। इसका आशय यह है कि यदि किसी कृत्य के किए जाने के समय वह किसी विधि द्वारा निषिद्ध नहीं था, तो बाद में बनाए गए किसी विधि द्वारा उसे पूर्वव्यापी रूप से निषिद्ध करके उस कृत्य के लिए दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, यदि कोई कृत्य अपने किए जाने के समय अपराध नहीं था, तो कोई भी बाद का कानून उसे अपराध नहीं बना सकता। किन्तु इस मामले के तथ्यों में अभियुक्त इस सिद्धांत का लाभ कैसे ले सकते हैं, यह समझ से परे है। उन पर 1952 के खान अधिनियम की धारा 73 तथा धारा 74 के अंतर्गत कुछ विनियमों के उल्लंघन का आरोप है। क्या ये विनियम कथित उल्लंघन की तिथि पर प्रभावी थे? निस्संदेह, वे सामान्य धाराएँ अधिनियम की धारा 24 के कारण प्रभावी थे। यह तथ्य कि ये विनियम 1952 के अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए माने जाते हैं, इस स्थिति को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करता कि वे उस तिथि पर प्रवृत्त विधि थे। यह तर्क कि चूँकि वे “माने गए” विनियम थे, इसलिए वे उस तिथि पर प्रवृत्त विधि नहीं थे, पूर्णतः भ्रान्त है।

यह तर्क भी समान रूप से भ्रान्त है कि इस न्यायालय का निर्णय *शिव बहादुर सिंह के मामले*<sup>(1)</sup> में इस दलील का समर्थन करता है। उस मामले में यह कहा गया था कि विंध्य प्रदेश अध्यादेश 48, 1949 यद्यपि 11 सितंबर 1949 को अधिनियमित हुआ, अर्थात् कथित अपराधों के घटित होने के पश्चात, फिर भी धारा 2 के द्वारा उसे पूर्वव्यापी प्रभाव दिया गया था, जिसमें यह कहा गया था कि यह अध्यादेश 9 अगस्त 1949 से विंध्य प्रदेश में प्रभावी माना जाएगा; अतः वह उस तिथि से प्रभावी विधि माना जाना चाहिए। इस संदर्भ में इस न्यायालय ने कहा—

“किन्तु ऐसा करना अनुच्छेद 20 में प्रयुक्त ‘प्रवृत्त विधि’ वाक्यांश को कुछ अधिक तकनीकी अर्थ देना होगा। वहाँ ‘प्रवृत्त विधि’ से आशय ऐसी विधि से नहीं है जिसे केवल ‘प्रवृत्त माना गया हो’, बल्कि उस विधि से है जो वास्तव में उस समय प्रभावी और कार्यरत

थी, अर्थात् उस समय विद्यमान विधि.....। अतः इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि अनुच्छेद 20 में प्रयुक्त 'प्रवृत्त विधि' शब्दों का अर्थ उनके सामान्य अर्थ में ही समझा जाना चाहिए, अर्थात् वह विधि जो अपराध के किए जाने के समय वास्तव में अस्तित्व में थी और प्रभावी थी, न कि वह विधि जिसे विधायिका की पूर्वव्यापी कानून बनाने की शक्ति के कारण केवल 'प्रवृत्त माना गया हो'।"

जैसा कि न्यायालय ने स्पष्ट किया, वह केवल इस प्रश्न पर विचार कर रहा था कि क्या किसी कथित कृत्य के बाद बनाया गया कोई विधि, उसे पूर्वव्यापी प्रभाव देकर, स्वयं को अनुच्छेद 20 के प्रयोजन हेतु "प्रवृत्त विधि" बना सकता है; और न्यायालय ने यह माना कि ऐसा नहीं किया जा सकता। निर्णय में प्रयुक्त शब्द—"प्रवृत्त विधि से आशय ऐसी विधि से नहीं है जिसे 'प्रवृत्त माना गया हो'"—को उसके संदर्भ से पृथक नहीं किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् न्यायालय ने स्पष्ट किया कि "प्रवृत्त विधि" से आशय उस विधि से है जो उस समय वास्तव में प्रभावी थी, अर्थात् उस समय विद्यमान विधि। अतः वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या जिस विधि के उल्लंघन का आरोप लगाया गया है, वह कथित उल्लंघन की तिथि पर प्रभावी थी? वर्तमान मामलों में इसका उत्तर स्पष्ट रूप से हाँ है। इसलिए अनुच्छेद 20(1) का कोई अनुप्रयोग नहीं होता।

प्रबंधक एवं अभिकर्ता द्वारा दायर अपीलों में हमारे समक्ष कोई अन्य बिंदु नहीं उठाया गया है। अतः ये अपीलें (अपील संख्याएँ 102, 105 एवं 106) निरस्त की जाती हैं।

अन्य चार अपीलों में धारा 76 में प्रयुक्त शब्द "किसी एक निदेशक" की व्याख्या से संबंधित एक जटिल प्रश्न उत्पन्न होता है। धारा 76 इस प्रकार है—

*"कुछ मामलों में स्वामी का निर्धारण—जहाँ किसी खान का स्वामी कोई साझेदारी फर्म या व्यक्तियों का कोई संघ हो, वहाँ उसके किसी एक भागीदार या सदस्य को, या जहाँ किसी खान का स्वामी कोई सार्वजनिक कंपनी हो, वहाँ उसके किसी एक निदेशक को, अथवा जहाँ*

किसी खान का स्वामी कोई निजी कंपनी हो, वहाँ उसके किसी एक अंशधारक को, उस अपराध के लिए जिसके लिए खान का स्वामी दंडनीय है, इस अधिनियम के अंतर्गत अभियोजित किया जा सकता है और दंडित किया जा सकता है।”

“परन्तु यह कि जहाँ किसी फर्म, संघ या कंपनी ने मुख्य निरीक्षक को लिखित सूचना देकर यह नामित किया हो कि—

(क) फर्म के मामले में उसका कोई भागीदार,

(ख) संघ के मामले में उसका कोई सदस्य,

(ग) सार्वजनिक कंपनी के मामले में उसका कोई निदेशक, या

(घ) निजी कंपनी के मामले में उसका कोई अंशधारक,

जो प्रत्येक स्थिति में उस स्थान में निवास करता हो जहाँ यह अधिनियम लागू होता है, इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए खान के स्वामी की जिम्मेदारियाँ ग्रहण करेगा, तो ऐसा भागीदार, सदस्य, निदेशक या अंशधारक, जैसा भी मामला हो, जब तक वह इस अधिनियम के प्रयोजन के लिए स्वामी बना रहता है, तब तक वही उत्तरदायी माना जाएगा, जब तक कि मुख्य निरीक्षक को उसकी नामांकन निरस्त करने या उसके भागीदार, सदस्य, निदेशक या अंशधारक न रहने की सूचना लिखित रूप में प्राप्त न हो जाए।”

इसी धारा के आधार पर सभी निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन प्रारंभ किया गया है। यदि इस धारा में प्रयुक्त शब्द “किसी एक” का अर्थ “प्रत्येक” माना जाए—जैसा कि उच्च न्यायालय में सरकार-अपीलकर्ता की ओर से तर्क किया गया था, परन्तु अस्वीकार कर दिया गया—तो यह धारा सभी निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन को उचित ठहराती है। परन्तु यदि “किसी एक निदेशक” का अर्थ “केवल एक निदेशक, चाहे वह कोई भी हो” माना जाए—जैसा कि अपील संख्याएँ 103 और 104 में अपीलकर्ताओं (दो निदेशकों) द्वारा तर्क दिया गया और

उच्च न्यायालय ने स्वीकार किया—तो उनके इस अतिरिक्त तर्क पर विचार करना आवश्यक होगा कि यह धारा संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है और इस कारण शून्य है। ऐसी स्थिति में उच्च न्यायालय द्वारा खान निरीक्षक को अभियोजन हेतु किसी एक निदेशक का चयन करने का निर्देश विधिसम्मत नहीं ठहराया जा सकेगा। क्योंकि यदि “किसी एक निदेशक” का अर्थ “केवल एक” लिया जाए, तो प्राधिकारियों को अनेक निदेशकों में से किसी एक के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार मिल जाता है, और यह तर्क दिया जा सकता है कि इस विवेकाधिकार का प्रयोग पूर्णतः अनियंत्रित और मनमाना है। ऐसी स्थिति में उच्च न्यायालय प्राधिकारियों को इस प्रकार के भेदभावपूर्ण प्रावधान का उपयोग करने का निर्देश विधिसम्मत रूप से नहीं दे सकता। अतः निर्णयन हेतु मुख्य प्रश्न यह है कि “किसी एक निदेशक” शब्दों की व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिए।

यह स्पष्ट है और विवादित भी नहीं है कि कुछ प्रसंगों में “किसी एक” का अर्थ “केवल एक, चाहे वह कोई भी हो” होता है; अतः “किसी निदेशक” वाक्यांश का अर्थ “केवल एक निदेशक, चाहे वह कोई भी हो” भी हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस वाक्यांश का कोई अन्य अर्थ संभव नहीं है? यदि नहीं, तो न्यायालय को उसी अर्थ को स्वीकार करना होगा, चाहे विधायिका की मंशा कुछ भी रही हो। किन्तु यदि इस वाक्यांश का एक और अर्थ संभव है, जैसा कि सुझाया गया है—अर्थात् “प्रत्येक निदेशक”—तो यह निर्धारित करना आवश्यक होगा कि विधायिका का आशय इन दोनों में से किस अर्थ से था।

यदि सामान्य वार्तालाप या साहित्य में “किसी एक” शब्दों के प्रयोग का परीक्षण किया जाए, तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि अनेक बार इनका प्रयोग “प्रत्येक” के अर्थ में किया जाता है—अर्थात् केवल एक नहीं, बल्कि सभी। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं—“कोई भी देख सकता है कि यह गलत है”, जिसका अर्थ होता है “सभी देख सकते हैं कि यह गलत है।” इसी प्रकार “कोई भी प्रवेश कर सकता है” का अर्थ यह नहीं है कि “केवल एक व्यक्ति प्रवेश कर सकता है”, बल्कि यह कि सभी प्रवेश कर सकते हैं। इस संदर्भ में

शब्दकोश की ओर देखना न केवल उचित बल्कि उपयोगी भी है। ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश में “कोई भी” का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—सकारात्मक वाक्यों में यह किसी व्यक्ति या वस्तु के बारे में बिना किसी सीमा के प्रयोग होता है, और इस प्रकार उस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु पर सामूहिक रूप से लागू होता है। दिए गए उदाहरणों में से एक है—“में किसी को भी मेरी बातों का खंडन करने की चुनौती देता हूँ।” स्पष्ट रूप से इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल एक व्यक्ति को चुनौती दी गई है, बल्कि यह कि सभी को चुनौती दी गई है। अतः यह पूरी तरह स्पष्ट है कि “किसी एक” शब्दों का प्रयोग अनेक अवसरों पर “प्रत्येक” के अर्थ में भी किया जाता है।

परन्तु श्री पाठक का तर्क है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि “किसी एक” का प्रयोग “प्रत्येक” के अर्थ में किया जा सकता है, तो भी जब यह वाक्यांश “में से” का के साथ प्रयोग होता है और उसके बाद अनेक व्यक्तियों को सूचित करने वाला शब्द आता है, तब इसका अर्थ कभी “प्रत्येक” नहीं होता। यह ध्यान देने योग्य है कि ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में दिया गया अर्थ किसी व्यक्ति या वस्तु के “उस प्रकार के” संबंध में कथन करने की बात करता है; और यह कहना अनुचित नहीं होगा कि “में से” के साथ किसी समूह को सूचित करने वाला शब्द भी उसी प्रकार का उल्लेख है। मान लीजिए कि उदाहरण “में किसी को भी मेरी बातों का खंडन करने की चुनौती देता हूँ” को बदलकर यह कर दिया जाए—“में अपने किसी भी विरोधी को मेरी बातों का खंडन करने की चुनौती देता हूँ।” यहाँ “मेरे किसी भी विरोधी” का अर्थ केवल एक विरोधी नहीं होगा, बल्कि सभी विरोधियों से होगा।

यद्यपि “उनमें से किसी एक” अथवा “किसी एक” जैसे ऐसे वाक्यांश, जिनमें “किसी एक” के बाद “में से” (का) आता है और उसके पश्चात् अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं को सूचित करने वाले शब्द प्रयुक्त होते हैं, हमारे देश अथवा इंग्लैंड के न्यायालयों में प्रत्यक्ष रूप से न्यायिक व्याख्या के लिए नहीं आए प्रतीत होते, तथापि “वर्तमान निदेशकों में से किसी” वाक्यांश की व्याख्या एक पुराने अंग्रेजी वाद आइल ऑफ वाइट रेलवे कंपनी बनाम

टाहोरडिन<sup>(1)</sup> में की गई थी। उस मामले में अनेक अंशधारकों ने निदेशकों से कंपनी की सभा बुलाने की माँग की थी। उन उद्देश्यों में से एक यह था—“यदि आवश्यक या उपयुक्त समझा जाए, तो वर्तमान निदेशकों में से किसी को हटाया जाए तथा निदेशक मंडल में उत्पन्न रिक्तियों को भरने हेतु नए निदेशकों का निर्वाचन किया जाए।” निदेशकों ने केवल दूसरे उद्देश्य के संबंध में सभा बुलाने की सूचना जारी की और सभा आयोजित कर दी। इसके पश्चात् अंशधारकों ने कंपनी उपबंध अधिनियम, 1845 के अंतर्गत स्वयं सूचना जारी कर मूल निवेदन में उल्लिखित दोनों उद्देश्यों के लिए सभा बुला ली। निदेशकों द्वारा उस सभा को आयोजित करने से रोकने हेतु वाद दायर किए जाने पर अपीलीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि “वर्तमान निदेशकों में से किसी को हटाने” संबंधी सूचना, उस समय के सभी निदेशकों को हटाने के प्रस्ताव को भी वैध ठहराती है। न्यायमूर्ति कॉटन एल. ने इंगित किया कि “किसी” शब्द का आशय “सभी” को भी समाहित करता है।

यह सत्य है कि वहाँ प्रयुक्त शब्द “वर्तमान निदेशकों में से किसी” थे, न कि “वर्तमान निदेशकों में से किसी एक” और यह तर्क दिया गया कि बाद वाले वाक्यांश में प्रयुक्त “एक” शब्द से पूरा अंतर उत्पन्न हो जाता है। हमारा विचार है कि यहाँ “एक” शब्द पर अत्यधिक बल देना उचित नहीं होगा। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि “शब्द और वाक्यांश<sup>(1)</sup>” के स्थायी संस्करण में एक अमेरिकी वाद “*फ्रंट एंड हिंटिंगडन बिल्डिंग एंड लोन एसोसिएशन बनाम बरज़िन्स्की*” का उल्लेख किया गया है, जिसमें “उनमें से किसी” शब्दों को “उनमें से किसी एक” के समतुल्य माना गया था।

इस विषय पर पूर्ण तथा गंभीर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि “किसी एक निदेशक” शब्द अस्पष्ट हैं। कुछ प्रसंगों में इनका अर्थ “केवल एक निदेशक, चाहे वह कोई भी हो” होता है, जबकि अन्य प्रसंगों में इनका अर्थ “प्रत्येक निदेशक” भी हो सकता है। इन दोनों अर्थों में से किसी विशेष वैधानिक वाक्यांश में विधायिका का आशय

किस अर्थ से था, इसका निर्णय न्यायालय को उन शब्दों के प्रयोग के संदर्भ, तथा विशेष रूप से अधिनियम की योजना और उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना होता है।

खान अधिनियम की धारा 76 का स्पष्ट उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि उन स्थितियों में, जहाँ खान का स्वामित्व किसी एक व्यक्ति के स्थान पर किसी फर्म, व्यक्तियों के संघ, सार्वजनिक कंपनी अथवा निजी कंपनी के पास हो, अधिनियम के प्रावधानों के अनुप्रयोग में कोई रिक्तता न रह जाए। इस धारा में यह प्रावधान किया गया है कि जहाँ खान का स्वामी कोई फर्म या व्यक्तियों का संघ हो, वहाँ उसके किसी भागीदार अथवा सदस्य को दंडित किया जा सकता है; जहाँ स्वामी कोई निजी कंपनी हो, वहाँ उसके किसी अंशधारक के विरुद्ध अभियोजन चलाया जा सकता है और उसे दंडित किया जा सकता है; तथा जहाँ स्वामी कोई सार्वजनिक कंपनी हो, वहाँ "किसी अंशधारक" के स्थान पर उसके किसी निदेशक के विरुद्ध अभियोजन चलाया जा सकता है और उसे दंडित किया जा सकता है। इस धारा में एक परन्तुक भी है, जिसके अनुसार यदि फर्म के किसी भागीदार, संघ के किसी सदस्य, सार्वजनिक कंपनी के किसी निदेशक अथवा निजी कंपनी के किसी अंशधारक के नामांकन की सूचना दी जाती है, तो खान के स्वामित्व का निर्धारण केवल उसी नामांकन के अनुसार किया जाएगा। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि जहाँ किसी खान का स्वामी एक व्यक्ति 'क' हो—अर्थात् पूर्ण और एकमात्र स्वामी—वहाँ स्वामित्व से संबंधित सभी दायित्वों और दंडों के लिए वही उत्तरदायी होगा। जब विधायिका ने उन परिस्थितियों के लिए विशेष प्रावधान करना आवश्यक समझा, जहाँ खान का स्वामित्व किसी फर्म, व्यक्तियों के संघ अथवा कंपनी के पास हो, तब यह मानना तर्कसंगत नहीं होगा कि वह सामान्यतः सभी भागीदारों में से एक को छोड़कर शेष सभी को, या संघ के सभी सदस्यों में से एक को छोड़कर शेष सभी को, अथवा निजी कंपनी के सभी अंशधारकों में से एक को छोड़कर शेष सभी को, तथा सार्वजनिक कंपनी के सभी निदेशकों में से एक को छोड़कर शेष सभी को दंड से मुक्त रहने देना चाहती थी। अधिनियम का उद्देश्य श्रमिकों की सुरक्षा तथा कार्य की समुचित परिस्थितियों को

सुनिश्चित करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाए गए अधिनियम, नियमों, विनियमों और उपविधियों के पालन को सुनिश्चित करने हेतु विधायिका ने धारा 18 में प्रबंधक, अभिकर्ता तथा स्वामी को उनके समुचित अनुपालन के लिए उत्तरदायी बनाया है। इनके उल्लंघन को जुर्माना अथवा कारावास द्वारा दंडनीय बनाया गया है। ऐसी व्यवस्था में यह अपेक्षा करना युक्तिसंगत है कि विधायिका इस बात का विशेष ध्यान रखेगी कि जो भी व्यक्ति वह कार्य कर रहा हो, जिसे सामान्यतः एक व्यक्तिगत स्वामी द्वारा किया जाना अपेक्षित है, उसके साथ भी उसी प्रकार व्यवहार किया जाए जैसा एक व्यक्तिगत स्वामी के साथ किया जाता है। फर्म के मामले में यह स्थिति उसके सभी भागीदारों द्वारा पूर्ण की जाती है; अन्य व्यक्तियों के संघ के मामले में यह स्थिति उसके सभी सदस्यों द्वारा पूर्ण की जाती है; निजी कंपनी के मामले में यह स्थिति उसके सभी अंशधारकों द्वारा पूर्ण की जाती है, जबकि सार्वजनिक कंपनी के मामले में यह स्थिति उसके सभी निदेशकों द्वारा सामूहिक रूप से पूर्ण की जाती है। अतः यह अपेक्षित है कि फर्म के सभी भागीदार, निजी कंपनी के सभी अंशधारक तथा सार्वजनिक कंपनी के सभी निदेशक उसी प्रकार अभियोजन और दंड के अधीन हों, जैसे किसी खान का व्यक्तिगत स्वामी होता है। जब हम इस पृष्ठभूमि में विधायिका को यह शब्द प्रयोग करते हुए देखते हैं—“किसी एक निदेशक, किसी एक भागीदार, किसी एक सदस्य, किसी एक अंशधारक ..... के विरुद्ध अभियोजन चलाया जा सकता है और उसे दंडित किया जा सकता है”—और ये शब्द एक ओर “सभी निदेशक, सभी सदस्य, सभी अंशधारक तथा सभी भागीदार” के अर्थ में सक्षम हैं, तथा दूसरी ओर “केवल एक निदेशक, केवल एक भागीदार, केवल एक सदस्य अथवा केवल एक अंशधारक” के अर्थ में भी सक्षम हैं, तब हमें तनिक भी संदेह नहीं रहता कि विधायिका ने इन शब्दों का प्रयोग पहले अर्थ में किया है, न कि बाद वाले अर्थ में।

परन्तु श्री पाठक का तर्क है कि “दंडात्मक विधि” की व्याख्या के संबंध में लागू विशेष सिद्धांत को नहीं भूलना चाहिए, अर्थात् यदि किसी प्रावधान की भाषा संदिग्ध हो, तो

सामान्यतः वह व्याख्या अपनाई जानी चाहिए जो अभियुक्त के पक्ष में हो। उनके अनुसार यदि “कोई भी” की व्याख्या उनके सुझाए गए अर्थ में की जाए, तो वह विधायी प्रावधान ही शून्य हो जाएगा और इस प्रकार अभियुक्त बच निकलेंगे। इसलिए, दो संभावित व्याख्याओं में से वह व्याख्या अपनाई जानी चाहिए जो अभियुक्त के हित में हो। हमारे मत में इस तर्क में कोई सार नहीं है। दंडात्मक विधियों की अभियुक्त के पक्ष में कठोर व्याख्या का नियम सार्वभौमिक रूप से लागू होने वाला सिद्धांत नहीं है; इसे व्याख्या के अन्य सुव्यवस्थित सिद्धांतों के साथ मिलाकर देखना आवश्यक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि अधिनियम की योजना और उद्देश्य यह संकेत देते हैं कि विधायिका का आशय कोयला खानों की स्वामी कंपनी के सभी निदेशकों को अभियोजन और दंड के अधीन करना था, न कि केवल किसी एक निदेशक को। इन परिस्थितियों के सामने दंडात्मक विधियों की अभियुक्त के पक्ष में कठोर व्याख्या के नियम को लागू करने की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है।

उच्च न्यायालय इस तथ्य से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है कि अन्य अधिनियमों में, जहाँ विधायिका का उद्देश्य किसी समूह या वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को उत्तरदायी बनाना था, वहाँ उसने अपने आशय को व्यक्त करने के लिए स्पष्ट भाषा का प्रयोग किया है; तथा “कोई भी” वाक्यांश का प्रयोग इस देश के किसी अन्य अधिनियम में “प्रत्येक व्यक्ति” के अर्थ में नहीं किया गया है। हमारे मत में इस परिस्थिति को अत्यधिक महत्व देना उचित नहीं होगा। ऊपर उल्लिखित कारणों से हम यह मानते हैं कि “निदेशकों में से कोई एक” वाक्यांश का अर्थ “सभी निदेशक” भी हो सकता है। अतः केवल इस कारण कि अन्य अधिनियमों में समान आशय व्यक्त करने के लिए भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, कोई विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।

इन सभी विचारों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि धारा 76 में “निदेशकों में से कोई एक” शब्दों का प्रयोग “सभी निदेशकों” के अर्थ में किया गया है, और उच्च न्यायालय द्वारा की गई इसके विपरीत व्याख्या सही नहीं है।

“निदेशकों में से कोई एक” की व्याख्या “सभी निदेशकों” के रूप में किए जाने पर संविधान के अनुच्छेद 14 के उल्लंघन का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।

अतः हम अपील संख्याएँ 98 और 99 स्वीकार करते हैं, वर्ष 1956 की रिट याचिका संख्याएँ 475 और 476 में उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेशों को निरस्त करते हैं, तथा निर्देश देते हैं कि उक्त विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाएँ खारिज की जाएँ। अपील संख्याएँ 103 और 104 खारिज की जाती हैं।

*अपील संख्याएँ 98 एवं 99 स्वीकृत।*

*अपील संख्याएँ 100 से 106 खारिज।*

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।